

यह लेख कार्टून विवाद को व्यापक राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में रखकर देखता है। लेख कहता है कि प्रभावी राजनीति को यह चिन्ता सता रही है कि कहीं उनकी असफलताओं के चलते वैकल्पिक राजनीति केन्द्र में न आ जाए। इसीलिए वह भावनात्मक मुद्दों और अस्मिता की संकीर्ण राजनीति को उभारकर जनता के बीच विभाजन को बढ़ावा दे रही है।

## कार्टून, संस्कृति एवं राज्य

एक समाजशास्त्रीय विमर्श

राजीव गुप्ता

**ल**गता है समाज का प्रभुत्वशाली वर्ग बचपन से युवा होने के विकास की प्रक्रिया को विस्मृत कर चुका है। बचपन में परिवार जनों, पड़ोसियों और निकट के सामाजिक परिवेश पर प्रतिक्रिया के कुछ रूप मुंह चिढ़ाना, जीभ निकालना, सिर के दोनों तरफ अंगूठे लगाकर उंगुलियों को चलाना इत्यादि थे जिन्हें 'चिढ़ाना' या 'मजाक बनाना' कहा जाता था। प्रतिक्रिया के ये रूप गैर-मौखिक भाषा का हिस्सा हैं जिनमें बचपन चेतना के प्रारंभिक स्वरूप को व्यक्त करता है। आपको शायद यह भी याद न हो कि बच्चा जब रोता/रोती था या दर्द में कराहता था तो परिवार जन ऐसी ही भाव-भंगिमा बनाकर बच्चों को हंसाते थे और फिर उसे गले से लगाते थे। मुझे यह कहने में झिझक नहीं है कि ये भाव-भंगिमा वाली गैर-मौखिक भाषा ही कार्टून का प्रारंभ है। यह बचपन जब विद्यालयों में प्रवेश करता है तो ये भाव-भंगिमा पुस्तिकाओं में आ जाती हैं। बच्चे इन पुस्तिकाओं में अपने शिक्षकों, मित्रों, पूर्व-अनुभवों या कल्पनाओं को चित्रों, व्यंग्य या टेड़ी-मेड़ी रेखाओं के द्वारा उभारते हैं और सबको हंसने-हंसाने के लिए विवश करते हैं। समाजीकरण की प्रक्रिया में गैर-मौखिक भाषा का यह प्रवेश 'कार्टून' को सामाजिक जीवन का अविभाज्य भाग बनाता है। कार्टून वास्तव में भावना एवं शिक्षा के युग्म को संस्कृति से जोड़ता है। बचपन में कार्टून बनने पर या कार्टून बनाने पर या तो मार पड़ती थी या फिर हंसने-हंसाने के साथ सिर पर प्यार भरे हाथ रख दिए जाते थे। दोनों प्रतिक्रियाएं दो तरह की

संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती हैं। प्रथम में निरंकुशतावादी, अनुशासनात्मक एवं अधीनस्थता की संस्कृति उभरती है जो सृजनशीलता को या तो स्वीकृत नहीं करती अथवा निर्देशित सृजनशीलता (कन्डीशन्ड क्रियेटिविटी) को स्वीकारती है। दूसरी प्रतिक्रिया लोकतांत्रिकरण, लौकिकीकरण, समानता, सहिष्णुता

### परिचय

प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर। (रिसर्च अवार्डी- विश्वविद्यालय अनुदान आयोग)

को व्यक्त करती है और स्वतंत्रता के मूल्य को अभिव्यक्ति का भाग बना लेती है। पहली प्रतिक्रिया व्यक्तित्व पूजा को महत्त्व देती है जहां वंशवाद किसी न किसी रूप में संस्थाओं की गत्यात्मकता के साथ नजर आता है। जबकि दूसरी प्रतिक्रिया में सामूहिकता का वर्चस्व है और हर क्रिया को सहिष्णु मूल्यांकन के साथ सामने लाया जाता है। पहले में (भावनात्मक) हिंसा की वैधता है जबकि दूसरे में समतामूलक प्रतिष्ठा के साथ लगाव का तर्क निहित है। पहली प्रतिक्रिया में बचपन की हत्या की जाती है जबकि दूसरी प्रतिक्रिया में बचपन विकास के केन्द्र में आ जाता है।

‘उत्पीड़न’ एवं ‘सहयोग मूलक समानता’ के उपरोक्त विरोधाभास स्वतंत्र भारतीय समाज में वैश्वीकरण के उपरान्त तीव्र हुए हैं। ‘मार्केट फण्डामेंटलिज्म’ अर्थात् बाजार के प्रभुत्ववाद ने श्रमिकों, किसानों, विद्यार्थियों के सम्मुख अस्तित्व के संकट को व्यापक किया है। परिणामस्वरूप समूचा लोकतांत्रिक परिवेश बहुआयामी खतरों से घिर गया है। वैश्वीकरण से पनपे वित्तीय संकट, आर्थिक असमानता एवं बेकारी की समस्याओं के समाधान में दक्षिणपंथी एवं मध्यमार्गीय राजनीतिक दल, जो प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में नव्य-उदारवाद के समर्थक हैं, पूर्णरूपेण असफल सिद्ध हो रहे हैं। वर्गीय राजनीति, जिसे सोवियत संघ के विघटन के बाद एक ध्रुवीय विश्व के नारे ने हाशिए पर ला दिया था, के उभार की संभावनाएं नजर आने लगी हैं जो समूचे विश्व में जन-असंतोष के रूप में हमारे सामने हैं। वस्तुतः विश्व पूंजीवाद गहरे संकट में है। जन-असंतोष कहीं फिर वैकल्पिक राजनीति को शक्तिशाली न कर दे इसका भय प्रभावी राजनीतिक शक्तियों को सता रहा है। परिणामस्वरूप सामाजिक अस्मिता की राजनीति को केन्द्र में लाने की कोशिश है। यदि ऐसा होता है तो पनपाए गए सामाजिक विभाजनों से वर्गीय एकता का उभार नहीं हो सकेगा। धर्म, जाति, आदर्श व्यक्तित्व, क्षेत्र, भाषा आदि से संबद्ध अस्मिताओं को राजनीतिक संरक्षण के अंतर्गत पनपाने की कोशिश है। विभाजनमूलक संस्कृति का माहौल भय, असुरक्षा एवं आक्रामकता को विस्तार देता है और इससे उभरी हिंसा राज्य को निरंकुश बनने का अवसर देती है। कार्टून के विवाद, पुस्तकों पर प्रतिबंध ट्रेस-कोड, शिक्षकों एवं बुद्धिजीवियों की गिरफ्तारी एवं ‘हम’ तथा ‘वे’ के अन्तःविरोध को हवा देने की कोशिश इस प्रयास का हिस्सा बनकर उभरे हैं।

मुझे ऐसा भी महसूस होता है कि भारत की राज्य सत्ता एवं बाजार की वैश्विक शक्तियां दो प्रयासों के लिए एकजुट हैं। प्रथम, जनता के मध्यवर्गीय एवं निम्नवर्गीय हिस्से में सामन्ती एवं पूंजीवादी मूल्यों का गठजोड़ जीवन पद्धति का हिस्सा बना रहे हैं। द्वितीय, जनता का प्रत्येक भाग ‘संवैधानिक नागरिकता’ के परिवेश के प्रति तटस्थ रहे और इन्हें महज ‘आदर्श’ मानते रहे। जीवनयापन में या तो इनका प्रभावी प्रवेश न हो या फिर इनका उल्लंघन हो तो कोई ऐसी अनुभूति न हो जो शर्मसार करे। इन स्थितियों की निरन्तरता बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि भावनात्मक आक्रोश उत्पन्न करने वाले मुद्दों को उछाल कर जनता के मध्य विभाजन उत्पन्न कर दिया जावे। कार्टून विवाद विभाजन को उत्पन्न करने वाला ‘राज्य निर्देशित शिक्षाशास्त्र’ है। जिन्होंने इस विवाद को उत्पन्न किया है वे अंबेडकर, नेहरू, गांधी एवं स्वाधीनता संघर्ष से जुड़े वैचारिक पक्षों की उपेक्षा कर रहे हैं। इन विचारकों के अन्तःविरोधों के बावजूद स्वाधीनता, लोकतंत्र, समानता व सहिष्णुता एवं धर्म निरपेक्षता के मूल्यों के प्रति इनके लगाव के प्रति जनता को कोई शंका नहीं रही। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का मूल्य भारतीय संविधान में बाबा साहब बी. आर. अंबेडकर की सशक्त भूमिका के कारण सम्मिलित हुआ है। कार्टून एवं अन्य किस्म के अभिव्यक्ति संबंधी विरोध करने वाले लोग वास्तव में बी. आर. अंबेडकर का अपमान कर रहे हैं। कार्टून के द्वारा किसी का कभी अपमान नहीं हुआ। यह तो जन अभिव्यक्ति का वह प्रकार है जिसे बी. आर. अंबेडकर सहित अनेक ‘रोल मॉडल्स’ ने ‘हम भारत के लोगों’ को प्रदान किया है। यदि व्यंग्यात्मक भाषाओं एवं चित्रों/रेखाचित्रों की जनभाषा पर (जन) प्रतिनिधि रोक लगाने की मांग करते हैं तो वे जनता की लोकतांत्रिक विकास की प्रक्रिया को अवरुद्ध करते हैं। जिस ‘डैमोग्राफिक डिविडेन्ड’ को लेकर भारत की राज व्यवस्था, विशेषतः मानव संसाधन विकास मंत्रालय बहुत उत्साहित है, के विकास का रूप क्या हो; इस पर बहस के परिणामस्वरूप एनसीएफ 2005 को

वास्तविकता का रूप मिला था। एनसीएफ 2005 में उन पक्षों की व्यापक आलोचना थी जो एनसीएफ 2000 में तत्कालीन शासक वर्ग की राजनीतिक चेतना का भाग थे और संविधान की मूल भावना के विपरीत थे। यह आलोचनात्मक बहस उन विभिन्न नेशनल फोकस समूहों के माध्यम से उभरी जो संविधान के मूल्यों को विद्यार्थियों की चेतना की मांग बनाने के प्रति कटिबद्ध थे और विसंगतिमूलक वास्तविकताओं, नवाचारों एवं देशज बनाम सार्वभौमिक परिवेश के पक्षों को आसान तरीके से एवं बाल सुलभ शिक्षाशास्त्र के द्वारा प्रस्तुत करने की सोच रखते थे। समावेशन को स्थापित करने के लिए जरूरी है कि संकीर्ण संज्ञानात्मकता पर प्रहार हो। कार्टूनों के माध्यम से चर्चा विद्यार्थियों की संकीर्ण संज्ञानात्मकता पर स्वाभाविक प्रहार करती है। परन्तु दूसरी ओर संकुचित अस्मिताओं को वोट बैंक के रूप में स्वीकारने वाला राजनैतिक नेतृत्व संकीर्ण संज्ञानात्मकता का सदैव पक्षधर होता है। बी. आर. अबेडकर व नेहरू पर कार्टून को लेकर राजनेताओं से संबद्ध कार्टूनों पर आक्रोश इस पक्षधरता की अभिव्यक्ति है। संवाद के लोकतांत्रिक स्वरूप को मिल रही यह चुनौती शिक्षा के उद्देश्यों के लिए घातक है। असल में राज सत्ता चाहती है कि विद्यार्थी प्रारंभिक अध्ययन (अर्थात् 12वीं कक्षा) तक राष्ट्रीय चिंताओं से मुक्त रहे। राष्ट्रीय चिंताओं से सोद्देश्य पृथक्करण विद्यार्थी की राजनीतिक चेतना को या तो संकुचित करता है या उसे अ-राजनीतिक बनाता है। यही वजह है कि कार्टून प्रकरण पर अकादमिक क्षेत्र में अपेक्षित प्रतिक्रिया नहीं हुई जो चिन्ता का विषय है।

अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति बच्चों की समस्याओं से संबद्ध फोकस समूह में सहभागिता के दौरान हम सदस्यों के मध्य (अध्यक्ष एवं सदस्य सचिव सहित 15 सदस्यीय समिति) विमर्श के दौरान यह तर्क उभरा था कि जातीय-सामन्ती संस्तरण को चुनौती देने के लिए सामाजिक समानता एवं सामाजिक न्याय को प्रोत्साहित करने वाला शैक्षणिक परिवेश विद्यालयी व्यवस्था में समाहित हो। दुर्भाग्यवश वर्तमान राज सत्ता इन मूल्यों की स्थापना के प्रयासों का केवल बाह्य प्रदर्शन/दिखावा करती है जबकि यथार्थ में वह उन समस्त शक्तियों की समर्थक है जिनके लिए समानता एवं सामाजिक न्याय के उल्लंघन दिन-प्रतिदिन की शैली का भाग है। परिणामस्वरूप आज प्रत्येक क्षेत्र में विशेषतः राजनीति में 'सैलिब्रिटीज' का अभाव है और राजनीतिक नेतृत्व के प्रति स्वाभाविक लोकप्रियता नहीं है। उन्हें लोकप्रियता को उत्पन्न करने के लिए अपनी वोट बैंक की शक्ति के सम्मुख लगातार प्रयास करने पड़ते हैं और वोट बैंक के अपने अल्पकालिक हितों को जीवित रखना/करना पड़ता है। राजनीतिक व्यवस्था में अपने गैर-संस्थागत रूप को छिपाने के लिए या उन्हें जनता तक न पहुंचने देने के लिए स्थापित राजनीतिक 'सैलिब्रिटीज' या 'आइकन' का सहारा लिया जाता है। वर्तमान कार्टून प्रकरण में बी. आर. अबेडकर का सहारा लेकर जन भावना को उभारने की कोशिश इसका एक उदाहरण है। आज का राजनीतिक नेतृत्व 'नकारात्मक करिश्माई नेतृत्व' बनकर उभरा है, यह दुर्भाग्यजनक है। कार्टून की आलोचना करने वालों ने न तो विद्यार्थियों से जानना चाहा, न ही शिक्षकों से चर्चा करने की कोशिश की और न ही लेखकों व अभिभावकों से कोई विमर्श किया। यह तो एक किस्म की बाध्यता (इम्पोजीशन) है। इस बाध्यता को नियोजित रूप से स्थापित किया गया है। शैक्षणिक संस्थानों की स्वायत्तता पर हर तरीके से प्रहार कर उन्हें वर्तमान शक्ति संरचना के अनुरूप ढालने की कोशिश है। उन विद्वानों को हाशिए पर ला दिया गया है जो राज्य की नीतियों के आलोचक हैं। उनकी आलोचनाओं में निहित स्वतंत्रता एवं प्रतिबद्धता की उपेक्षा के लिए 'वोट बैंक' को निर्देशित करने वाली 'मसल पावर' का सहारा लिया जाता है। दूसरी ओर राज सत्ता के साथ जुड़ाव रखने वाले विद्वान विभिन्न पदों पर या जांच समितियों में स्थान पाते हैं ताकि 'आधार संरचना' के पूर्णतया अनुरूप 'अधि संरचना' (सुपर स्ट्रक्चर) को बनाए रखा जा सके। 'स्कॉलरशिप' को मिलने वाली धमकी और उसके कार्यों को दी जा रही चुनौती लोकतांत्रिक चिंता का विषय है। राजनीतिक क्षेत्र में विचारधारायी नेतृत्व का हास हुआ है। यह नेतृत्व नवीन पीढ़ी द्वारा उठाए गए बुनियादी सवालों का उत्तर देने में असमर्थ है। शैक्षणिक भेदभाव, रोजगार मूलक असमानता, आर्थिक विभेद के उभार से संबद्ध कोई उत्तर नहीं है। सरकारी क्षेत्रों के शैक्षणिक संस्थानों पर आक्रमण कर निजी शैक्षणिक संस्थानों की वैधता के प्रयास जोर-शोर से जारी हैं। अतः ध्यान हटाना जरूरी है इसलिए कार्टून

के सवाल उठाए जाने से एक राजनीतिक आवश्यकता की मांग है। बी. आर. अंबेडकर पर यदि कार्टून है तो दलित विद्यार्थी आक्रोशित हो सकता है और इस कार्टून को हटाकर दलित वोट को पक्ष में किया जा सकता है। मुझे ऐसा भी लगता है कि भारत में लोकतंत्र अब केवल राजनीतिक दलों की चुनावी जीत एवं हार तक सिमट कर रह गया है। जीतने एवं हारने/हराने की भी अपनी एक राजनीति है। भारतीय स्कॉलरशिप का बड़ा हिस्सा इस प्रकृति की राजनीति पर आक्रमण नहीं करना चाहता। भारतीय मीडिया का भी यही हाल है। समाचार पत्र नव्य-उदारवाद के समर्थक विदेशी पत्र-पत्रिकाओं के लेख देशज भाषाओं में परोस रहे हैं और एक विशेष किस्म के कट्टरवाद को सांस्कृतिक-वैचारिक वैधता दे रहे हैं। कार्टून पर आक्रमण कर पारंपरिक सामाजिक व्यवस्था को पुनः स्थापित करने की कोशिश वर्तमान राज सत्ता करने की इच्छुक है और इस कोशिश में शिक्षा को इस्तेमाल करना बहुत जरूरी है। क्या सामाजिक अस्मिताओं की संकीर्ण राजनीति की वैधता हेतु पुनरुत्थानवादी शिक्षा स्वरूप के राज्य के प्रयास को शिक्षाविद् स्वीकारेंगे? एक ऐसा सवाल है जो संस्कृति एवं राज्य के संबंधों की परख कर सकता है।

कार्टून विवाद को एक अन्य दृष्टिकोण से भी विश्लेषित करने की आवश्यकता है। आधुनिकता एवं जनवादी-प्रगतिशील मूल्यों से जन साधारण को हर संभव तरीके से पृथक रखने की कोशिश वर्तमान राज सत्ता की (अ) घोषित नीति का हिस्सा है। यदि ग्रामशी<sup>1</sup> के दृष्टिकोण को सामने रखें तो कह सकते हैं कि यह राज सत्ता शिक्षा के उस हर पक्ष को समाप्त करना चाहती है जो जन साधारण में रचनात्मकता का विस्तार करे। 'मानवतावादी रचनात्मकता' के विकास का परिणाम राज सत्ता को भली-भाँति ज्ञात होता है। वास्तव में 'मानवतावादी रचनात्मकता' उस कैरियर नौकरशाही पर आक्रमण की चेतना है जो भारत में हर प्रणाली को अपने नियंत्रण में ले चुकी है। संसद और विधानसभा भी इस 'कैरियर नौकरशाही' का प्रतिनिधित्व करते हैं। देश में राजनीतिक नेतृत्व इस कारण संकीर्णतावाद को अपनी भावी सफलताओं के लिए तकनीक का रूप देता है ताकि राजनीतिक कैरियर सुरक्षित रहे। इस संदर्भ में वायगोत्स्की<sup>2</sup> का यह मत भी समझना आवश्यक है कि विचार एवं भाषा की अन्तः संबद्धता क्या है? बचपन में शब्दों के अर्थों की जो उत्पत्ति होती है उसके प्रयोगात्मक प्रभाव होते हैं जो कालान्तर में विचारों के रूप में उभार लेते हैं। कार्टून की भाषा के अनेक अर्थ हो सकते हैं। कार्टून की रचना करने वाले कलाकार से लेकर शिक्षक एवं विद्यार्थी अपनी-अपनी शैली में कार्टून के अर्थ लगाते हैं जिनसे समूह में बहस की संभावना बनती है और विविधता पर आधारित विचार उभरने लगते हैं। यही आलोचनात्मक शैली का सृजन भी है और साथ ही सहिष्णुता के मूल्य की स्वीकृति का प्रारूप भी। कार्टून इस दृष्टि से संवाद का वह माध्यम है जो हंसने को, गुदगुदाने को, अन्दर की व्यथा को बाहर लाने को और कलाकार की वैचारिक-सामाजिक कल्पना को 'आकार' देता है। कार्टून पर वर्तमान में चल रही बहस स्वायत्तता की बहस भी है। आज राजनीति यथार्थ एवं सिद्धांत से विमुख होकर लोकतांत्रिक स्वाधीनता का मिथकीय अर्थ गढ़ रही है। शायद राजनीतिक चिन्तन इस तथ्य को झुठलाने पर आमदा है कि कलाकार की स्वतंत्रता का रूप समाज से बनता है। उसकी अभिव्यक्ति को चुनौती समाज को दी जाने वाली चुनौती है। कलाकारों पर अंकुश की तर्क संगतता (?) को बुद्धिजीवियों के एक हिस्से का सहारा लेकर स्थापित करना और भी खतरनाक है क्योंकि इसका परिणाम शिक्षा को यथास्थितिवाद का पोषक बनाएगा और यही साझा संस्कृति को विखण्डित कर देगा। ◆

1. अंतोनियो ग्रामशी (2002) सांस्कृतिक और राजनीतिक चिन्तन के बुनियादी सरोकार, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली।
2. एल. एस. व्यगोत्स्की (2007), विचार और भाषा, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली।